संस्मरण

‘बहती गंगा’ के भागीरथ : ‘रुद्र’ काशिकेय

अजय मिश्र

जिस व्यक्ति को हम जितना अधिक जानते हैं, उसके बारे में लिखते समय ‘क्या न लिखें’ सवाल उतना ही अधिक परेशान करता है। ‘रुद्रजी’ को पहली बार मैंने मार्च १९५४ में देखा था। तब हम लखनऊ में रहते थे, हेवेट रोड यानी शिवाजी मार्ग पर, यशपालजी से तीन मकान पहले। पिताजी (बलदेव प्रसाद मिश्र) अपने गुरु दामोदरलाल गोस्वामी की मृत्यु (२२ नवंबर, १९४८) के बाद बनारस से ऐसे विरक्त हुए कि जनवरी ’४९ में वे लखनऊ आ गए थे। बनारस छोड़ने का अतिरिक्त कारण उनका छोटे भाइयों से हुआ विवाद भी था। एक साल की बेकारी के बाद वे रुद्रनारायण शुक्ल द्वारा प्रकाशित ‘रक्षक’ के संपादक हुए, फिर ‘स्वतंत्र भारत’ के साहित्य संपादक। आकाशवाणी का इलाहाबाद केंद्र शुरू हो चुका था, किंतु महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों का प्रसारण तब भी लखनऊ केंद्र से ही होता था। पिताजी ने बनारस में कंठे महाराज से तबला-वादन सीखा था। इसलिए वे तथा पिताजी के साहित्यिक मित्र जब भी लखनऊ केंद्र में कार्यक्रम के लिए आते, उनका रैन-बसेरा हमारा घर ही होता। तब छत पर पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी की अध्यक्षता में छोटी-मोटी संगीत-सभा या काव्य-गोष्ठी जरूर होती। इनमें योगींद्रपति त्रिपाठी, ज्ञानचंद्र जैन, राजवल्लभ ओझा, डॉ. सत्यव्रत सिंह, शिवसिंह ‘सरोज’, दिवाकर तथा अखिलेश शामिल होते। ऐसी ही एक गोष्ठी में पिताजी ने भी सितार बजाया था कंठे महाराज की संगत में।

‘रुद्रजी’ को याद रख पाने की कई वजह हैं। पिताजी बहुत ही गंभीर किस्म के थे। हँसना तो मानो उन्होंने सीखा ही न था। जिस बात पर हम ठहाका लगाते, वे मात्र स्मित तक सीमित रहते। हमारी शरारतें उनपर असर न करतीं। वे किसी शैलखंड की तरह निर्वाक् रहते। ऐसे धीर-गंभीर पिता को हमने ‘रुद्रजी’ के आने पर उनके साथ भरपूर हँसते देखा था। दोनों एक अबूझ बोली में बात करते हँस रहे थे। बाद में जाना कि वह बनारसी बोली थी—काशिका। ‘रुद्रजी’ की लखनऊ-यात्रा से जुड़ी एक और याद है। अमृतलाल नागर ने कहीं लिखा है, ‘हमें भाँग बनाने का आचार्य होने का बहुत गुमान था; किंतु बलदेवजी को भाँग बनाते देख यह गुरूर चूर हो गया। वे सौ से ज्यादा किस्म की भाँग पूरी विधि-विधान से बनाना जानते थे।’ नागरजी का यह अनुभव जरूर रुद्रनारायणजी के पेरिस जाने से पहले का होगा, जब उनके घर हर शाम लखनऊ के दिग्गज साहित्यकारों का जमावड़ा होता था। हमने पिताजी को केवल होली पर भाँग बनाते देखा था। किंतु ‘रुद्रजी’ के आने पर पिताजी ने लगातार तीन दिन उनके लिए भाँग तैयार की थी। ‘रुद्रजी’ भाँग पीते नहीं थे। लगभग आधा पाव भाँग की तीन गोल टिकियाँ हथेली से दबा वे मुँह में रखकर घूँट पानी के साथ गले से नीचे उतार लेते।

लखनऊ में ‘रुद्रजी’ को पिताजी के मित्र रूप में देखा था। पिताजी की अलमारी में रखी पुस्तकों में से ‘रक्तमंडल’, ‘खूनी पंजा’, ‘सुफेद शैतान’ तथा ‘चंद्रकांता’ मैं पढ़ चुका था; किंतु ‘रुद्रजी’ के लेखन को समझ उन्हें श्रद्धास्पद मानने की उम्र न थी मेरी। जरूर पिताजी की गंभीरता को झेलने के आदी हमें रुद्रजी का व्यक्तित्व मनोरंजक लगा होगा। वे मेरे लिए अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा या ज्ञानचंद्रजी की तरह पिताजी के मित्र थे। नहीं जानता था तब कि दो वर्ष बाद हमें अचानक बनारस जाना होगा और मेरे जीवन में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी—मेरे अभिभावक और गुरु के रूप में। होली की अगली सुबह अपनी दैनिक रुटीन के तहत पिताजी ‘स्वतंत्र भारत’ के लिए अपना दैनिक कॉलम ‘काँव-काँव’ लिखने लगे। वे पेट के बल लेटकर लिखा करते और हम भाई-बहन उनकी पीठ पर लद जाते। लिखने में असुविधा होने पर वे मुँह में दबी पान के साथ ‘ऊँ-ऊँ’ कर बरजते, जिसका हमपर असर न होता। उस सुबह उन्होंने पास लेटे ‘रुद्रजी’ की ओर इशारा किया—‘इनका पेट हमसे बड़ा है, आज तुम इनके साथ खेलो।’ छोटी बहन पिताजी की पीठ से ही चिपकी रही। उधर ‘रुद्रजी’ हमें अपने लंबोदर का रहस्य समझा रहे थे, ‘यहाँ भाँग है, यहाँ मिठाई है, यहाँ रसगुल्ले हैं, यहाँ चावल, यहाँ रोटी।’

२० मई, १९५६ की सुबह सत्ताईस दिनों तक कोमा में रहते हुए पिताजी की मृत्यु हो गई। उन्हें सेरीब्रल हैम्रेज हुआ था। उसी रात लखनऊ सदा के लिए छूट गया। पिताजी को देखने ‘रुद्रजी’ भी बनारस से आए थे। घर न आ सीधे किंग्स जॉर्ज कॉलेज गए। दिन भर पिताजी के पास मौन बैठे रह वे रात की ट्रेन से वापस चले गए। उन्होंने दिन भर भोजन न लिया और अपने जीवन में शायद पहली बार भाँग भी नहीं। वे नागरजी से मिलने भी नहीं गए। बनारस के पैतृक मकान में हम २१ की सुबह पहुँचे। तीसरे दिन प्राय: ग्यारह बजे ‘रुद्रजी’ आए। हम भाई-बहन को उन्होंने अँकवार में लिया। कुछ न बोले। बस रुँधे गले के साथ हमारे

सिर पर हाथ फेरते रहे। बीच-बीच में उनकी आँखों से बहे आँसू हमारे सिर या कंधे पर ढरक रहे थे। उनके जाने के बाद बुआ ने बताया कि वे पिताजी के तीन बाल-मित्रों में एक हैं। उसी शाम पिताजी के मित्र—कविराज आशुतोष भट्टाचार्य तथा चित्रकार रमाकांत कंठाले के गुरु, बनारसी शैली के अद्भुत चित्रकार—केदार शर्मा आए। तनिक दबते कद के, दुबले-पतले केदार शर्मा ने कंधे पर लटके झोले से एक पीला कागज निकाल चबूतरे पर बैठे-बैठे लाल, नीली और काली पेंसिल से पिताजी का एक रेखाचित्र बनाकर मुझे दिया; कई वर्ष बाद चित्रकार कांजिलाल ने भी पिताजी का एक भव्य तैल-चित्र मुझे दिया, किंतु केदार शर्मा द्वारा निर्मित रेखाचित्र कहीं अधिक जीवंत है।

रुद्रजी के पास हर बात के लिए समय था—छात्रों को पढ़ाने का, नवोदित लेखकों को इस्लाह का, सभा-सम्मेलनों की अध्यक्षता का। समय नहीं था तो बस लिखने का। नीम पर चढ़े करेले की तरह रुद्रजी आलसी भी कम न थे। स्नेही, मित्र, छात्र और पत्र-संपादक बार-बार आग्रह कर लिखने के लिए बाध्य करते, 'तगादा' और 'घेराव' करते, तभी वे कुछ लिख पाते। उनके आलसी स्वभाव के···

ग्रीष्मावकाश के बाद 'रुद्रजी' हम दोनों भाइयों को डी.ए.वी. कॉलेज ले गए। बनारस तब कंक्रीट का जंगल न बना था। गलियों की दो बार सफाई होती थी और सुबह-शाम मशकची गली धोते थे। चूने का छिड़काव किया जाता था। तब महापालिका न थी। सड़कों पर तब पैदल चला जा सकता था। पटरियों पर खोमचे न लगते थे। पटरियाँ खूब चौड़ी और खाली हुआ करती थीं। रिक्शों के चलन की शुरुआत थी, इसलिए रिक्शे चमचमाते, नए-नकोर थे। इक्का तब भी बनारस के रईसों की शान का प्रतीक हुआ करता और ताँगे आम-जन के आवागमन का साधन। रिक्शा चालकों को ताँगा या इक्कों के कोचवान की बोली-ठोली का शिकार बनना होता। लँगोटा और लाल गमछा तब बनारस की सर्वप्रिय ड्रेस थी। सड़कों की हवा में घोड़ों के पसीने और लीद की गंध तैरती।

ज्ञानवापी की सीढ़ियाँ चढ़ कारमाइकेल पुस्तकालय के नीचे स्थित श्रीनाथ बुक डिपो के सामने हम रिक्शा पर बैठे। 'रुद्रजी' ने हमें बनारस के संबंध में तमाम बातें बताईं। हमने बाद में जाना कि वे काशी के सचल इतिहास हैं। बनारस की हर गली, तालाब-बावड़ी, कुएँ, मंदिर-मसजिद, गुंबद-धरहरे, बाग-बगीचे तथा इमारत या पुल के बारे में उनकी जानकारी बहुत मुकम्मल थी। बनारस उनके लिए बहुत छोटा था, इसे वे हथेली की रेखाओं की तरह जानते थे। वैसे भी, इतिहास उनका प्रिय विषय था। वे हिंदी तथा इतिहास से एम.ए. थे।

डी.ए.वी. कॉलेज की सीढ़ियाँ चढ़ प्रिंसिपल के कमरे में घुसने पर बड़ी मेज के उस पार बैठे व्यक्ति ने खड़े होकर रुद्रजी का स्वागत किया। वे कृष्णदेव प्रसाद गौड़ थे—'बेढब बनारसी'। उन्होंने सुधाकर पांडे को बुला हम भाइयों की प्रवेश से संबंधित औपचारिकता पूरी की। अभिभावक के रूप में रुद्रजी ने हस्ताक्षर किया। अगले साल बड़े भाई को छोटी बुआ झरिया ले गईं। भाई के जाने से परिवार बिखरने की प्रक्रिया पूरी हो गई, क्योंकि माँ और छोटी बहन को नाना पहले ही ले जा चुके थे। मैंने उनसे कहा कि डी.ए.वी. दूर है, भाई के न रहने पर उतनी दूर अकेले जाने का मन नहीं करता। सत्रावकाश के बाद उन्होंने मेरा दाखिला हरिश्चंद्र कॉलेज में करवा दिया। वे तब हरिश्चंद्र डिग्री कॉलेज में प्राध्यापक थे।

नौवीं तक पहुँचते-न-पहुँचते मैं कविता-कीट का शिकार हो गया। कॉलेज मैगजीन के लिए सूर्योदय पर एक कविता लिखी। महाकवि की तरह गर्व से ऐंठते गया रुद्रजी को कविता दिखाने। उन्होंने कविता ले गुनगुनाना शुरू किया। मात्रा-दोष और छंद-भंग से उनके माथे पर बल पड़ गए। मेरी ओर देखा। मेरा दर्प तब तक काफूर हो चुका था। मेरी दीनता देख उन्हें शायद तरस आया। तिपायी पर रखी पेंसिल उठा काट-पीट करने लगे। कविता वापस करते हुए उन्होंने मेरे कवित्व पर झाड़ू फेर दी, 'कविता-फविता छोड़ो, गद्य लिखो। अच्छा गद्य कविता होता है। पढ़ा है न—गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति?' मैंने सिर हिला हामी भरी। मन-ही-मन सोच रहा था, 'क्यों दिखाने लाया इन्हें।' उन्होंने आगे कहा, 'पहले घूमो, खूब घूमो। बनारस की हर गली, मुहल्ले की खाक छानो। मुहल्ले के बड़े-बुजुर्गों से मिलो। उनसे बात करो; लेकिन उससे जरूरी चीज है अपनी परंपरा को पहचानना। सबसे पहले अपने परिवार का इतिहास जानो। अपने पिता, पूर्वज और परंपरा पर गर्व करना सीखो।'

मेरे कवि-भाव की जो अकाल मृत्यु हुई सो हुई, किंतु 'खूब घूमो' की सलाह मैंने गाँठ में ऐसी बाँधी कि सुबह बस्ता ले स्कूल के लिए घर से निकलता तो जरूर पर पाँव शहर की गलियाँ नापते। घाटों की सैर करता, सारनाथ तक पैदली मार करता, राजघाट की खुदाई देखने जाता। कभी-कभी स्कूल भी चला जाता। नतीजा वही हुआ जो न होना चाहिए था। नवमी में फेल हो गया। रुद्रजी ने पूछा, 'कैसे हुआ?' मेरा जवाब था, 'आपने ही तो कहा था—खूब घूमो।' वे ठठाकर हँसे। बोले, 'मैंने कब कहा था कि स्कूल मत जाओ, अंग्रेजी में फेल हो जाओ। बिना डिग्री के आज के युग में पूजा नहीं होती, खाली साहित्य लिखने से पेट नहीं भरेगा। मुझे देखो, पहले अखबार के दफ्तर में नौकरी करता था, अब पढ़ा रहा हूँ।'

मेरा नौवीं में फेल होना वरदान साबित हुआ। इस घटना से मैं उनके काफी नजदीक हो गया। बनारस को 'सात वार नौ त्योहार' का शहर कहा जाता है। अच्छे अध्यापक जिस तरह कमजोर छात्रों पर विशेष ध्यान देते

हैं, वे मुझे काशी के इतिहास, प्रमुख घटनाओं, शहर के औलिया, फकीरों, संतों, गुंडों, पंडों और पंडितों के बारे में बताते।

इंटर तक मेरा ऐसा कोई मित्र न था, जिसके साथ शाम गुजार सकूँ, इसलिए सात बजते-न-बजते कदम खुद-ब-खुद रुद्रजी के घर की ओर उठ जाते। पहले दालान में स्थित कमरा रुद्रजी की बैठक हुआ करता था, फिर पहली मंजिल के कोने में बने कमरे को उन्होंने अपनी बैठक बनाया। यह बैठक उनकी दुनिया थी। कवि-सम्मेलनों में पहले भी यदा-कदा ही जाते थे, बाद में आकाशवाणी जाना भी बंद कर दिया। गंजी के साथ धोती को लुंगी का रूप दे वे एक नीची चारपाई पर तकिए के सहारे अधलेटे बैठते। एक तिपाई पर पुस्तकें, पान और चारपाई के नीचे उगालदान, चाँदी का एक छोटा गिलास और सुराही—बस यही सज्जा थी उनकी बैठक की। आँखों में मोतियाबिंद होने पर टेबल लैंप और बढ़ गया था। भाँग उनकी कमजोरी थी, जिसके बिना वे रह नहीं सकते थे।

हर विधि ज्ञान हासिल करना, ज्ञान का सर्वविध दान करना उनका व्यसन था। रुद्रजी की पीढ़ी के साहित्यकार गजब किस्म के अध्यवसायी और पुस्तक-कीट हुआ करते थे। अधिक-से-अधिक भाषाओं को सीखने, नई-पुरानी पुस्तकों को पढ़ने की आपस में होड़ होती थी।

रुद्रजी के विस्तृत और गहन अध्ययन का परिचय उनके लेखों से मिलता है। उग्रजी की तरह बेढबजी को भी अनेक साप्ताहिक, पाक्षिक पत्रों के प्रकाशन और संपादन का श्रेय जाता है। १५ अगस्त, '६४ से उन्होंने हास्य-व्यंग्य पाक्षिक 'बेढब' का प्रकाशन शुरू किया था। रुद्रजी इसमें 'इतिहास की इमिरिती में चंडूखाने की चाशनी' स्तंभ लिखा करते थे। इतिहास की मनोरंजक भूलों पर उन्होंने अपनी सरस व्यंग्य शैली में सशक्त चोट की है।

उनका-सा गहन अध्ययन बहुत कम लोगों के बूते की बात है। वे साहित्य की बोलती लाइब्रेरी थे और मूर्तिमान बनारस। सन् '६५ में अमृतलाल नागर से लखनऊ में भेंट होने पर उन्होंने रुद्रजी के बारे में कहा था, 'काशी के बारे में तुम्हारे पिता और रुद्रजी को मैं सचल इतिहास मानता हूँ। बलदेवजी चले गए और रुद्रजी लिखते नहीं।' नागरजी की शिकायत बनारस वापसी पर रुद्रजी के सामने रखी। वे हँसकर बोले, 'भाई, वे सिर्फ लिखते हैं, मैं पढ़ाता भी हूँ। एक जान सौ बवाल। समय कहाँ मिलता है।' यह सच भी था। दिन भर विश्वविद्यालय में और शाम घर पर अध्यापन के बाद बचे समय का उपयोग वे अध्ययन में करते थे। सायं पाँच से रात्रि आठ तक उनकी बैठक में प्रतिदिन छात्र-छात्राओं का जुटान होता था। परिचित-अपरिचित सभी विद्यार्थियों को बिना किसी भेदभाव के वे नि:शुल्क पढ़ाते थे। कभी कोई पान भी लाया तो बरज देते थे। परीक्षा के दिनों में तो जैसे बी.ए. और एम.ए. की विशेष कक्षाएँ ही लगा करती थीं। छात्रों को एक-एक शब्द और पंक्ति का अर्थ समझाते—अनेक-अनेक अर्थ, फिर उससे मिलते-जुलते भाववाली उर्दू, संस्कृत और बँगला की कविताएँ सुना अर्थ-विस्तार देते। अपनी इन विशेषताओं, भव्य व्यक्तित्व और विद्वत्ता के कारण वे सबके 'गुरुजी' थे। हिंदी तथा इतिहास मेरे विषय न थे, इसलिए शास्त्रीय अर्थ में इनकी शिक्षा मैंने उनसे न ली थी। फिर भी वे मेरे गुरु थे।

रुद्रजी के पास हर बात के लिए समय था—छात्रों को पढ़ाने का, नवोदित लेखकों को इस्लाह का, सभा-सम्मेलनों की अध्यक्षता का। समय नहीं था तो बस लिखने का। नीम पर चढ़े करेले की तरह रुद्रजी आलसी भी कम न थे। स्नेही, मित्र, छात्र और पत्र-संपादक बार-बार आग्रह कर लिखने के लिए बाध्य करते, 'तगादा' और 'घेराव' करते, तभी वे कुछ लिख पाते। उनके आलसी स्वभाव के बावजूद स्मारिकाओं और पत्र संपादकों द्वारा तगादा चलता रहता था, क्योंकि वे काशी के बारे में सबसे सहज-सुलभ और प्रामाणिक लेखक थे। उनके अनेक महत्त्वपूर्ण लेख स्मारिकाओं में छपे हैं, विशेषत: काशी की नाट्य परंपरा पर उनका लेख तथा 'कहावतों का इतिहास' शीर्षक एक अन्य लेख। जेरॉक्स की सुविधा तब न थी। चूँकि रचना अंतिम समय में लिखी जाती, इसलिए टाइप भी न हो पाती। बिना कोई प्रतिलिपि रखे वे रचना दे दिया करते थे। एक बार रचना मिलने पर न कोई स्मारिका की प्रति देता, न यह सूचना ही कि रचना छपी भी या नहीं। ऐसे अनेकानेक वाकये होने पर भी वे मानते न थे। उनका यह औघड़दानी स्वभाव ही था, जिसकी वजह से उनके पास उनकी प्रकाशित पुस्तकों—'सू-चि-ता-स', 'गजलिका' आदि की बात तो दूर, 'बहती गंगा' की भी कोई प्रति न थी। अपने लेख, कहानी, कविता या नाटकों की कटिंग तक न रख पाते थे। उन्होंने व्यवस्थित रूप से या योजना बनाकर कभी कुछ न लिखा। मौज में आए तो कविता लिखी, किसी ने तगादा किया तो लेख लिख दिया। वे स्वयं स्वीकार करते थे, 'अधिकतर मैंने आग्रह पर ही लिखा है।' सन् '४८ में बेढबजी तथा कमलापति त्रिपाठी ने 'आँधी' नामक कहानी-पत्रिका निकाली थी। 'बहती गंगा' में प्रकाशित कहानियों में कुछ 'आँधी' में छपी हैं, शेष 'आज', 'रक्षक' तथा 'स्वतंत्र भारत' में। इन कहानियों की व्यापक चर्चा हुई है; किंतु उनका व्यंग्यकार, इतिहास लेखक उपेक्षित रहा है।

सन् १९६८ की बीमारी के बाद उनको लगा कि शरीर अब अधिक साथ न देगा। वे सभी काम कर लेने चाहिए जिन्हें टालते आ रहे हैं। बार-बार कहने लगे थे, 'अब कुछ लिखना है।' 'कुछ लिखने' में उनकी प्राथमिकता थी बनारस का इतिहास। वे घनघोर अध्ययन में जुट गए, नोट्स तैयार करने लगे। इसी बीच किसी ने बताया कि हजारीप्रसाद द्विवेदी 'कीर्तिलता' पर काम कर रहे हैं। उन दिनों वे द्विवेदीजी से नाराज चल रहे थे। परिणाम यह हुआ कि इतिहास को वहीं छोड़ वे 'कीर्तिलता' की व्याख्या में जुट गए। यह काम जनवरी '७० तक पूरा हो जाता, किंतु बीच में ही वे 'राम बोला, राम बोले' उपन्यास पर फिर से काम करने लगे। मनोहरश्याम जोशी ने रुद्रजी से भेंट कर इस उपन्यास को पूरा करने का अनुरोध किया था। यह उपन्यास उन्होंने सन् '६६ में शुरू किया था। मैं डिक्टेशन लेता था। तभी मैं मुंबई चला गया। आने पर पाया कि

उपन्यास आगे नहीं बढ़ा। जोशीजी श्रावण शुक्ल सप्तमी से इसे 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में धारावाहिक रूप से छापना चाहते थे। इस बीच काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'भारतेंदु नाटकावली' के प्रकाशन में तेजी आ गई। उसका भारतेंदु जयंती पर प्रकाशन तय किया गया था। रुद्रजी इसके संपादक थे। इसमें उनका काफी समय जा रहा था। अत्यधिक मानसिक और शारीरिक श्रम के दबाव से वे बीमार रहने लगे। कोई भी काम पूरा न हो सका। यहाँ तक कि 'भारतेंदु नाटकावली' की भूमिका भी न लिख सके।

रुद्रजी अपनी बीमारी से न लड़ सके। संकल्प-शक्ति का अभाव मुख्य कारण था। जिजीविषा शेष न रही थी। कुछ और जीना है या कुछ कर जाना है, ऐसा कुछ भी ध्वनित नहीं होता था उनके व्यवहार में। वे जब तक चेते तब तक देर हो चुकी थी। काल-प्रवाह के साथ न चलने वाले, सबकुछ 'कल' पर टालनेवाले रुद्रजी के साथ यही हुआ। मृत्यु को आना ही था। उन्होंने मृत्यु का वरण किया था। मृत्यु दबे पाँव नहीं आई थी, उसने लुका-छिपी नहीं खेली थी। मृत्यु डंके की चोट पर आई—तूर्यनाद करती, रणभेरी बजाती—उनके कृशकाय शरीर पर विजयनाद के साथ।

मृत्यु ने चार वर्ष पूर्व ही दस्तक दे दी थी। वे बार-बार अस्वस्थ हो रहे थे। हर बार तीन-चार माह बिस्तर का साथ। पर चेत नहीं रहे थे। चिकित्सकीय सलाह पर चलना, नियमित रूप से दवा का सेवन करना, संयमित रहना उनके स्वभाव में ही न था। पिछले सात-आठ वर्षों से उन्होंने शराब को भी अपना लिया था। चारपाई के नीचे एक किनारे वे बोतल रखते। पढ़ाते या डिक्टेशन देते हुए उधर झुक तनिक भी आवाज न हो, इतनी सजगता बरतते वे गिलास में शराब ढारते। फिर पानी डाल घूँट-घूँट पीते। शाम के दो-तीन पेग उस विजया के अतिरिक्त थे, जिसने युवावस्था में ही उनका साथ गहा था। इस ज्यादती से शरीर का क्षय हो रहा था। ज्यादती इसलिए कि शराब और भाँग के साथ ली जानेवाली खुराक का कहीं अता-पता न था। काया गलती जा रही थी। देखकर विश्वास न होता था कि यह शरीर कभी कद्दावर हुआ करता था। सुना था कि बचपन में वे मेरे पिताजी के साथ हमारे सबसे छोटे बाबा देवदत्तजी द्वारा त्रिपुरा भैरवी घाट पर बनवाए अखाड़े में अभ्यास किया करते थे। वे तीर्थ पुरोहित पिता महावीर प्रसाद मिश्र के पुत्र थे। देश के विभिन्न स्थानों से आए तीर्थयात्रियों की यजमानी परिवार की वृत्ति थी। यात्रियों को स्टेशन से लाने, पुजाने के सवाल पर पंडों के बीच लाठियाँ निकल जाती थीं। पंडों द्वारा गुंडे पाले जाते थे। शहर में छन्नूजी-मन्नूजी, अंजनीनंदन मिश्र, बबुआ पांडे और दाऊ महाराज के साथ महावीर मिश्र का नाम तपता था। उनके आँगन में हमेशा लठैत हाजिरी बजाते। पारस्परिक स्पर्धा और प्रतिद्वंद्विता के बीच रुद्रजी ने बचपन में लाठी चलाना सीखा, कुश्ती सीखी; किंतु पारिवारिक वृत्ति को अपनाने से इनकार कर दिया। पिता ने इकलौते पुत्र की जिद के सामने हथियार डाल लाला भगवानदीन के 'दीन विद्यालय' में भरती कराया। दीन विद्यालय को उग्र, रसरास नागर, कांतानाथ पांडे 'चोंच', वेणीराम त्रिपाठी 'श्रीमाली' आदि को गढ़ने का श्रेय है।

अक्खड़ता रुद्रजी को अपने पिता से मिली थी। वे स्वभाव से, अपने नाम के अनुकूल रुद्र थे और कान के कच्चे भी। इस प्रवृत्ति का फायदा उनके कतिपय परिचित खूब उठाते। सामान्य बात पर उकसाकर, उनको आगे कर अपना काम निकाल लेते। समय पर विजया या पान न मिलने की स्थिति में उनकी आवाज में तेजी आ जाती थी। कभी-कभी कोई पुस्तक या कलम खोजते हुए उनकी झुँझलाहट देखने योग्य होती थी। जरा-जरा सी बात पर मुँह फुलाने, बच्चों की तरह हठ करने, बुरा मान जाने तथा स्वभावगत अक्खड़ता के कारण वे अकेले हो गए थे। बनारस के साहित्यकार, समकालीन उन्हें आदर की दृष्टि से अवश्य देखते थे; किंतु सायास उनसे दूरी भी बनाए रखते—पता नहीं कब, किस बात पर उनकी भृकुटि टेढ़ी हो जाए। जगन्नाथ शर्मा, विजयपाल सिंह, यहाँ तक कि हजारीप्रसाद द्विवेदी से भी उनकी ठनी हुई थी। वे आलोचक थे, निंदक नहीं। व्यक्तिगत गुण-दोष पर चर्चा के बजाय उनकी टिप्पणियाँ रचनाओं पर होती थीं। हर व्यक्ति में कुछ खास आदत होती है, जैसे भोजन के समय चाहे जो भी आ जाए, विद्यानिवासजी उसे भोजन अवश्य ही कराएँगे। रुद्रजी के पास शाम के समय आनेवाला शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो शपथपूर्वक कह सके कि उसने रुद्रजी से कविता नहीं सुनी है। वे कविता सुनाने के शौकीन थे। जरूरी नहीं कि कविता उन्हीं की हो। वह गालिब का शेर, मीर की नज्म, मजाज की रुबाई या रत्नाकर का कवित्त, कुछ भी हो सकता था। अध्यापन और कविता-पाठ से फुरसत होने पर वे किस्से सुनाते। मई '७० में वे काफी अस्वस्थ हो चले थे। हिंदी विभाग से अंतिम बार विदा लेते हुए उन्होंने विभाग के हर प्राध्यापक, लिपिक तथा चपरासियों को बुलाया। अश्रुपूरित नेत्रों से सबसे विदा ली, सबसे माफी माँगी। नीचे आने पर उन्हें वमन हुआ। रिक्शा पर बैठा उन्हें घर तक लाया था मैं।

समय पर विजया या पान न मिलने की स्थिति में उनकी आवाज में तेजी आ जाती थी। कभी-कभी कोई पुस्तक या कलम खोजते हुए उनकी झुँझलाहट देखने योग्य होती थी। जरा-जरा सी बात पर मुँह फुलाने, बच्चों की तरह हठ करने, बुरा मान जाने तथा स्वभावगत अक्खड़ता के कारण वे अकेले हो गए थे। बनारस के साहित्यकार, समकालीन उन्हें आदर की दृष्टि से अवश्य देखते...

उन्हीं दिनों एक शाम मैं नगर छात्र निकाय की वार्षिक पत्रिका 'निकाय' के लिए तुलसी पर उनका लेख लेने गया था। वर्षों के अंतराल पर प्रकाशित हो रही 'निकाय' में उनकी विशेष रुचि थी। रघुपति सहाय 'फिराक', सुमित्रानंदन पंत तथा उपेंद्रनाथ 'अश्क' आदि से साक्षात्कार के लिए प्रेरित किया। मैं इन दिग्गजों से अपरिचित था, यहाँ तक कि पता भी न जानता था। उन्होंने फिराक साहब से समय लिया, नीलाभ प्रकाशन तथा पंतजी का पता बताया। फिराक साहब के लिए प्रश्नोत्तरी तैयार की। कुलपति श्रीमाली से बात कर मार्ग-व्यय का प्रबंध भी कराया। अपने लेख का आश्वासन भी दिया, 'दो-चार दिन बाद मिलना। छह पेज रखना।' दो-चार दिन बाद फिर मिला। तब वे कृश हो चले थे। टी.बी. उन्हें खोखला कर चुकी थी। ढाँचा मात्र रह गए थे। मैं चरण-स्पर्श कर बैठ गया। वे 'आयुष्मान्' कह मौन हो गए, कुछ न बोले। बहुत देर बैठा रहा। वे चुप ही रहे। प्रणाम कर भरे मन से वापस आ गया। २५ अगस्त की शाम उन्होंने मुझे बुलवाया। उस शाम वे सुचित्त थे। चेहरे पर रंगत भी थी। वे स्वस्थ लग रहे थे। सेंट्रल हिंदू स्कूल पर लेख दिया, ' 'निकाय' में इसे छाप लो।' उन्हें कविताएँ और उर्दू के शेर सुनाने का शौक था। फारसी में कायदा है रट्टा लगाने का—जो भी पढ़ो, जोर-जोर से पढ़ो। फारसी के रट्टे की वजह से कविताएँ वे ऊँची आवाज में पढ़ते थे, पूरे सुर में। उनके पास एक छोटा टाइपराइटर था, जिसपर कागज चढ़ा गुनगुनाते हुए वे कविता टाइप करते थे। उस शाम वे कविता सुनाने के मूड में थे।

मैंने अनुरोध किया, 'ज्यादा बात न करें, विश्राम करें।' वे न माने, 'नहीं भाई, अब मैं ठीक हो चला हूँ। १ सितंबर से विश्वविद्यालय जाना शुरू करूँगा।' चलते समय उन्होंने दो दिन बाद आने के लिए कहा। अगले दिन मैंने त्रिभुवन सिंह तथा भोलाशंकर व्यास को उनके बारे में बताया, 'रुद्रजी अब ठीक हो चले हैं।' 'निकाय' पत्रिका की छपाई शुरू हो चुकी थी। मुझे प्रूफ के फर्मे देखने हर रोज ईश्वरगंगी जाना होता। २५ अगस्त के बाद मैं उनसे न मिल सका। १ सितंबर को सुबह छह बजे उनके बड़े पुत्र लालजी उनकी मृत्यु का समाचार देने आए।

रुद्रजी के पास यदि सीखनेवाली आदतों की भरमार थी तो उनसे बहुत कुछ नहीं भी लिया जा सकता था; जैसे उनका क्रोध, उनका उतावलापन, उनका मानसिक विचलन, जिसकी वजह से उनकी कोई योजना पूरी न होती। उनकी स्मरण-शक्ति विलक्षण थी। भक्तिकालीन काव्य के तो वे मर्मज्ञ थे। विद्यापति पर उनका विशेष अधिकार था। संत-साहित्य पर उनका मौलिक चिंतन था। जयशंकर प्रसाद का सान्निध्य उन्हें युवावस्था में प्राप्त हुआ था, इसलिए वे प्रसादजी से काफी प्रभावित थे। प्रसादजी की जीवनचर्या तथा उनकी काव्य-प्रवृत्ति के विकास पर वे बहुत विस्तार से बताते थे। उनके पास पुराने साहित्यकारों, विशेषत: अपने गुरु लाला भगवानदीन, प्रसाद, प्रेमचंद, रामचंद्र वर्मा, रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के बारे में संस्मरणों का जखीरा था।

रुद्रजी 'खाँटी बनारसी' गुरु थे—यानी 'स्व' और 'भद्रता' की लीक पर चलनेवाले। वैसे लोग टूटते हैं एक बार, हजार बार झुकते नहीं। वे भी 'उग्र' की तरह जमाने को ठेंगे पर रखते, पर बेमोल बिकते भी। उनके सहज क्रोध में आत्मीयता थी। एक पल नाराज होते, अगले ही पल सहज। आमतौर पर साहित्यकार अपने मुहल्ले-टोले या शहर की नागरिक समस्याओं से स्वयं को ऊपर मानते हैं। वे समाज की विसंगतियों से ही सरोकार रखते हैं। रुद्रजी के साथ ऐसा न था। अपनी पसंद-नापसंद को वे छिपाते भी न थे। किसी लेख, कविता या कहानी के पसंद आने पर जिस उदारता और तत्परता से वे संपादक के नाम प्रशंसा-पत्र लिखते थे, उसी उदग्रता से शहर की गंदगी या अन्य समस्याओं पर संपादक के नाम पत्र लिख अधिकारियों तथा प्रशासन की 'खोज-खबर' लेते। न उन्हें संबोधनों से प्रीति थी और न अपनी आलोचना का भय। वे दो-टूक कहने के आदी थे। साहित्यकार हो या पत्रकार, जनसेवक हो या समाजसेवक, जो जहाँ चूका, रुद्रजी ने उसकी जमकर खबर ली। लगता है, यहाँ उनकी पत्रकारिता साहित्यकार रुद्र अध्यापक रुद्र पर हावी हो जाती थी। अपने पिता के प्रभाव तथा पक्के महाल की संस्कृति की वजह से वे 'हारेंगे तो हूरेंगे, जीतेंगे तो थूरेंगे, पर तमाशा घुसकर देखेंगे' की निर्भीक वृत्ति के बने।

हिंदी आंदोलन के समय विश्वविद्यालय में पी.ए.सी. तैनात थी। पी.ए.सी. के जवान सबको एक आँख से देखते हुए छात्र-अध्यापक-कर्मचारी सबको समान भाव से लखेद रहे थे। विश्वविद्यालय का मुख्य द्वार बंद था। रुद्रजी ने रिक्शा चालक को मुख्य द्वार से चलने के लिए कहा। रिक्शा चालक भयभीत था। उन्होंने समझाया, 'डेरात काहे हउए, हम हई न। जौन होई तौन देखल जाइ। एहरे से चलऽ।' और उपस्थित शंकायमान अध्यापकों से कहा, 'मैं चोर दरवाजे से नहीं जाता।'

दिसंबर '६९ के अंतिम सप्ताह में उन्होंने बिस्तर पकड़ लिया। बार-बार की बीमारी से वे त्रस्त हो चुके थे। दरअसल, वे लगकर दवा न करते थे। बीमार होने पर किसी चिकित्सक के पास जाते न थे। उनकी बीमारी की खबर पर शिवकुमार शास्त्री वैद्य कभी स्वयं आते, पर दवा वे निरंतर भेजते। किंतु रुद्रजी को न भाँग से परहेज था, न सुरापान से। जलपान भी उनका हर रोज जतनवर से आता। उनका जीवन सिद्धांत था, 'जब शाश्वत मरण निश्चित ही है तो अनिश्चित जीवन का अल्प स्थायी आनंद भीगे वस्त्र की तरह क्यों न निचोड़ लिया जाए। मरणशील जीवन का शोक ही क्यों मनाते रहें। जीवित रहते मनहूस बनना जिंदगी का नहीं, मौत का ही विलक्षण लक्षण है। जिंदगी का चिह्न है जिंदादिली।' मृत्यु को अपनी ड्योढ़ी पर देख वे अविचलित न हुए, धैर्य न खोया। जैसे कोई वर्षों से बिछुड़े मीत की बाट जोहता है, वह भी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे। मृत्यु-पूर्व उनमें बदलाव आ गया था। स्वभाव की तल्खी और तेजी ने विदा ले ली थी। क्रोध उन दिनों उनपर हावी न होता था। वे सबको धैर्यपूर्वक सुनते,

फिर अपनी कहते। जिस उतावलेपन से अपनी बात रखने की हड़बड़ाहट हुआ करती उनमें पहले उसकी जगह बाल-सुलभ उत्सुकता ने ले ली थी। वर्तमान पीढ़ी को जो कसक 'निराला' या 'उग्र' को न देख पाने की है, वही कसक आनेवाली पीढ़ी को 'रुद्र' के लिए होगी। प्रसादजी के दरबार में उठने-बैठनेवाले 'रुद्र' उस बनारसी परंपरा की अंतिम कड़ी थे।

वे एक दु:खी व्यक्ति थे—ऐसा व्यक्ति जो अपने सपने पूरे न कर सका। उन्होंने बचपन में ही विद्रोह कर पारिवारिक आजीविका-वृत्ति से कन्नी काट ली थी। किंतु पुत्रों को अपनी इच्छा के अनुसार न ढाल सके। उनके पिता ने इसकी इजाजत न दी। महावीरजी ने दोनों पौत्रों को यजमानी में ही डाला। रुद्र द्वारा अपनी कहानियों, लेखों के माध्यम से पंडों, तीर्थ पुरोहितों की लोलुप-वृत्ति पर, उनकी गुंडई और ओछेपन पर चोट करना तब व्यर्थ हो गया जब वे अपने पुत्रों को पंडा होने से न बचा सके। परिवार की तीन पीढ़ियों में अघोषित शीतयुद्ध की स्थिति रहती। पिता-पुत्र के बीच कोई उपाय न होने पर ही संवाद होता। अंतर्विरोध में उन्होंने खुद को जीया। महावीरजी मानते थे कि रुद्रजी ने लिखा-पढ़ी में प्रवृत्त हो अपना जीवन चौपट किया। ऐसी ही धारणा रुद्रजी की अपने पुत्रों के बारे में थी। कहा करते थे, 'दो लड़के, दोनों ही दो कौड़ी के।'

एक और कसक थी उनके मन में—अपना सही मूल्यांकन न होने की। यह सच है कि रुद्रजी ने अपनी क्षमता का सही उपयोग नहीं किया, उतना ही बड़ा सच यह भी है कि साहित्य-जगत् ने उनकी प्रतिभा का यथोचित समादर नहीं किया। उन्हें वह श्रेय भी न मिला, जिसके वे अधिकारी थे। 'बहती गंगा' की सभी कहानियाँ सन् १९४८ से १९५० के बीच छपी हैं; किंतु हिंदी का पहला आंचलिक उपन्यास लिखने का श्रेय गया 'रेणु' को। रुद्रजी की हिंदी गजलों का संग्रह 'गजलिका' सन् '५५ में छप चुका था, पर हिंदी में सर्वप्रथम गजल लिखने, भाषा के परिष्कार का सेहरा बँधा 'दुष्यंत' के सिर पर। वजह केवल यह कि वे गुट-निरपेक्ष थे। अपने सुहृद मित्र 'उग्र' की तरह खरी कहने, खोटी सुनने में यकीन करते हुए जीवन भर सबसे पंगा लेते रहे। किसी गुट में न होने से उनकी प्रतिभा उपेक्षित रही। इसका उन्हें मलाल था, 'मैं राजनीति करता, दलबंदी करता तो मेरे भी अभिनंदन होते। लेकिन भाई, यह सब मुझसे नहीं होता।' 'बहती गंगा' की भूमिका में उन्होंने लिखा है, 'किसी गुट का न होने की वजह से मैं गुटका संस्करण हूँ।' मलाल उन्हें विभागाध्यक्ष न होने का भी था, जिसके लिए वे द्विवेदीजी को जिम्मेदार मानते थे। असलियत यह थी कि वे विश्वविद्यालय की जातिवादी राजनीति में फिट न होते थे। विभागाध्यक्ष होने पर वे किसी गुट विशेष का मोहरा न बनते। द्विवेदीजी ने उनके पक्ष में प्रयास किया था। कुलपति से मिले भी थे। किंतु अध्यापकों के एक गुट ने कुलपति के सामने यह तर्क रखा कि वे अच्छे अध्यापक, श्रेष्ठ साहित्यकार भले ही हों, किंतु कुशल प्रशासक साबित न होंगे। विभाग में अनुशासनहीनता का वातावरण बनेगा। रुद्रजी का विजया-प्रेम तो सर्वविदित था ही, उनके सुरापान को भी उछाला गया। वे विभागाध्यक्ष न हो सके।

रुद्रजी 'खाँटी बनारसी' गुरु थे—यानी 'स्व' और 'भद्रता' की लीक पर चलनेवाले। वैसे लोग टूटते हैं एक बार, हजार बार झुकते नहीं। वे भी 'उग्र' की तरह जमाने को ठेंगे पर रखते, पर बेमोल बिकते भी। उनके सहज क्रोध में आत्मीयता थी। एक पल नाराज होते, अगले ही पल सहज। मृत्यु-पूर्व उनमें बदलाव आ गया था। स्वभाव की तल्खी, तेजी ने विदा ले ली थी।

एक इनसान के तौर पर वे बेमिसाल थे। ऐसे व्यक्तियों को बनाना अब विधाता ने बंद कर दिया है। उन्हें अपने शहर, अपनी भाषा और संस्कृति से बेहद लगाव था। घर में वे बनारसी में बात करते थे। बदलते बनारस का मिजाज उन्हें मथता था। संस्कृति के तेजी से क्षरण से वे निराश थे, 'न इक्के रहे, न ताँगे; न मलैया रही, न रामदाने का लड्डू। दूध की जगह चाय ने ले ली, कचौड़ी-जलेबी की जगह पावरोटी ने। अखाड़े गए, दुर्गाघाट की मुक्की गई, मीरघाट की लाठी बंद हुई। कुछ दिन बाद रामलीला, नक्कटैया, भरत-मिलाप भी न रहेगा। बनारसी बोली भी न बचेगी। बहरी अलंग जाना बंद हो जाएगा।' उन्होंने बनारस का भविष्य बहुत स्पष्ट देखा था, 'बनारस रहेगा, पर 'बनारसी' न होंगे। यह शहर बीते बनारस की परछाइयों का प्रेत मात्र होगा।' रुद्र की मृत्यु के बाद इतिहास ने खुद को दोहराया। पिताजी ने अपने गुरुदेव की मृत्यु के बाद बनारस छोड़ा था। रुद्र के न रहने पर मेरे लिए बनारस नीरस हो गया। दिसंबर '७० में मैं धनबाद आ गया। लोग झूठ कहते हैं कि मनुष्य खाली हाथ जाता है। रुद्र पक्के महाल यानी बनारस की मस्ती अपने साथ ले गए। पक्के महाल में एक-से-एक उद्‌भट विद्वान्, साहित्यकार हुए हैं। पुरानों में यदि अंबिकादत्त व्यास, कवि दु:खभंजन की बात न भी करें तो मानमंदिर से नैपाली खपड़ा के बीच श्यामसुंदर दास, रामचंद्र वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, निर्गुण, बलदेव प्रसाद मिश्र जैसे साहित्यकार हुए हैं; पर 'बनारसी' कहलाने के अधिकारी एकमात्र 'रुद्र' ही थे।

☐

डी-७/१५, सकरकंद गली,
दशाश्वमेध,
वाराणसी-१